सामाजिक विकास और साहित्य का संदर्भ

सामाजिक भौतिक और संसाधनिक विकास का क्रम जिस तेजी से आगे बढ़ा है वह चमत्कृत कर देनेवाला है। आज का मनुष्य भौतिक रूप से जितना संपन्न और समृद्ध है उतना पहले कभी नहीं था। चिकित्सा विज्ञान से ले कर ज्ञान का हर क्षेत्र आज पहले से अधिक विकसित है। मनोरंजन के भी एक-से-एक साधन और तौर-तरीके विकसित हो गये हैं। अनुभूति के भी एक-से-एक साधन विकसित हो गये हैं। ज्ञान और मनोरंजन के अतिविकसित साधनवाले इस उत्तर-आधुनिक होते समय में अब साहित्य की क्या जरूरत? और किसे जरूरत है? इस क्या और किसे का उत्तर ढूढें तो तुरंत पता चलेगा कि एक तरफ यह सचाई है तो दूसरी तरफ इस सचाई का एक और चेहरा है जो अति भयानक है। इसका कारण यह है कि ज्ञान-विज्ञान-संसाधन जितनी तीब्रता से विकसित हुए हैं उतनी तत्परता से वितरित नहीं हो पाये हैं। विकास का चेहरा विषमता की आँच से झुलसा हुआ है। विकास के बड़े-बड़े आंकड़े पढनेवाले लोग भी विकास के इस झुलसे हुए चेहरे को देखकर डर जाते हैं। यह डर डन्हें विषमता बढ़ानेवाली प्रवृत्ति को रोकने के लिए बहुत उद्योगी या तत्पर नहीं बनाता है तो इसका कारण यह नहीं कि उनका डर नकली या नाटक है बल्कि इसका कारण उनका अपना वर्ग-चरित्र है। विकसित होने के बावजूद विषम समाज में जीने के लिए बाध्य है आज का मनुष्य। इसलिए आज का मनुष्य पहले के मनुष्य से अधिक संपन्न होने के बावजूद पहले के मनुष्य से कहीं अधिक दुखी और विपन्न है। संपन्नता उसके दुख को कम करने में किसी भी प्रकार से मददगार नहीं हो पा रही है। विपन्नता उसके जीवन का स्थाई भाव है। और सबसे बड़ी विडंबना यह है कि इस दुख में वह बिल्कुल अकेला है। कोई उसका दुख बाँटने के लिए तैयार नहीं है। उसके दुख का कारण कस्तूरी की तरह उसीके नाभि-कुंड में विकसित होता रहता है। सुत-वित्त-नारी/नर-भवन-परिवार, सब बेकार। कोई उसके अकेलेपन को तोड़ पाने में उसका सहायक नहीं हो पाता है। इस अकेले पड़ते मनुष्य के संदर्भ में आज साहित्य की भूमिका परीक्षणीय है। उसे इस निरंतर अकेले पड़ते जा रहे हबोडकार मनुष्य से संवाद करना, उसका साथी बनना, उसकी आहत भावनाओं का आदर करना और अंतत: उसे अकेलेपन की अंधगुहा से बाहर निकालने की युक्ति करना है। यानी एक बेहतर साथी के रूप में साहित्य की जरूरत बनी हुई है। इस भूमिका के संदर्भ में ही उन सारे सवालों के उत्तर तलाशे जाने चाहिए जिनका संबंध साहित्य से है।

साहित्य का अपनी भाषा से गहरा सामाजिक और सांस्कृतिक संबंध हुआ करता है। अर्थात साहित्य का अपना सुनिर्दिष्ट भाषिक-समाज हुआ करता है। इस भाषिक-समाज को एक बनाये रखनेवाले सूत्र का एक

सिरा उस समाज के सबसे निचले स्तर तक जाता है तो दूसरा सिरा सबसे ऊपर के स्तर तक भी जाता है। वृहत्तर मानव आबादी की चिंता करते हुए भी उसे उसकी भी उतनी ही चिंता करनी पड़ती है जिसके तात्कालिक हितों के खिलाफ साहित्य अपना संवेदनात्मक विस्तार सिरजता है। वर्ग साहित्य तात्कालिक दृष्टि से भले अधिक लोक हितकारी प्रतीत होता हो लेकिन अंतत: लोक हित के अपने महत्त्वपूर्ण उद्देश्य में सफल होना उसके लिए असंभव रहा है। वर्ग हित साधने के लिए भी साहित्य को वर्गातीत होना पड़ता है। एक अधिक संवेदनशील और अधिक मानवीय मान-समाज के परिगठन के लिए इस रणनीति के मर्म को समझा जाना चाहिए। तातपर्य यह कि साहित्य को अपना बाहरी वितान सबके लिए खुला रखना चाहिए। यदि वर्गबोध को साहित्य के लिए अनिवार्य माना लिया जाये तो बड़े और ख्यातिनामा साहित्यकार के साहित्य के बड़प्पन के मर्म के समझ ही नहीं पाएंगे। कालिदास से लेकर जयदेव, विद्यापति, कबीर, सूर, तुलसी, मीरा, जायसी, प्रेमचंद, रवींद्रनाथ ठाकुर, निराला, प्रसाद आदि के साहित्य का वर्ग-पाठ किस प्रकार तैयार किया जा सकेगा? मुझे लगता है बाद के प्रगतिशील हिंदी साहित्य-विचारकों ने इस मामले में अपेक्षित सावधानी नहीं बरती। प्रेमचंद जैसे महान साहित्यकार जिस भाषा में हो गये उस भाषा के साहित्य में इस दुर्विपाक का घटित होना विस्मयकारी भी है और दुखद भी। प्रेमचंद की सहानुभूति एक व्यक्ति और विचारक के रूप में चाहे होरी के प्रति ही क्यों न रही हो लेकिन एक उपन्यासकार के रूप में रायसाहब समेत सभी पात्रों के प्रति उनकी सचेष्टता का संतुलन गजब है। एक बात की ओर गंभीरतापूर्वक ध्यान जाना चाहिए कि प्रगतिशीलता के नाम पर हिंदी साहित्य में सबसे ज्यादा आग्रह रहा है, शोर की हद तक, और सच्चे अर्थों में हिंदी समाज में सबसे अधिक अनाग्रह भी इसी प्रगतिशीलता के नाम पर रहा है। भाषा-समाज और भाषा-साहित्य के इस भयंकर अंतर्विरोध का सबसे घातक नतीजा यह देखने में आ रहा है कि इस पूरे प्रकरण में साहित्य का पाठक ही उससे बिदक गया। इधर गंभीरता से ध्यान देना होगा।

आज के भाषा-समाज पर ध्यान देने से जो बात सबसे पहले समझ में आती है वह यह कि आज भाषिक -समाज का स्वरूप काफी बदल चुका है। आज का पढ़ा-लिखा समाज अगर बहुभाषी नहीं भी हो गया हो तो उसके द्विभाषी होने में क्या संदेह है। यहीं पर इस बात पर विचार करना प्रासंगिक होगा कि भाषा और साहित्य का आपसी संबंध क्या होता है। क्या अंग्रेजी में हिंदी साहित्य का लेखन संभव नहीं है, यह भी कि क्या हिंदी में अंग्रेजी का साहित्य लिखना संभव है कि नहीं? यह सही है कि साहित्य का संबंध भाषा से बहुत गहरा है तथापि साहित्य को साहित्य बनानेवाले तत्त्व का नाम भावना, संवेदना, विचार, करूणा, आनंद, स्वप्न आदि से जुड़ता है। तो क्या हुआ? सामाज द्विभाषी हो या बहुभाषी लेकिन उसके सदस्यों की मूलभाषा (जरूरी नहीं कि मातृभाषा ही हो) अर्थात वह भाषा जिस भाषा के माहैल में उसके सामाजिक-जीवन का अधिकांश कारोबार संपन्न करता है, आत्मस्फूर्त ढंग से प्रेम करता है, घृणा करता है, क्रोध करता है, विरोध करता है, रोता और हंसता है वह एक ही हो सकती है। सहित्य के अलावे

संस्कार से भी भाषा का बहुत गहरा लगाव हुआ करता है। सामान्यत: यकीन करना कठिन है कि तमाम कोशिशों के बावजूद फासीवाद और सांप्रदायिकता से लड़ना इसलिए भी मुश्किल हो रहा है कि उसके लिए हमारे पास कोई अनुभव-सिद्ध देशज शब्द लोक में प्रचलित नहीं है जिसका इस्तेमाल सार्थक ढंग से किया जा सकता, नतीजा लोगों की नागरिक-संवेदना से इस समस्या को जोड़ने में हम नाकाम रहते आये हैं। अज्ञेय जब बर्त्तन के रूपक से शब्द के घिसने, मुलम्मा छूट जाने और देवता के कूच कर जाने की बात कहते हैं तो उसका व्यापक अर्थ है। उस व्यापक अर्थ का एक पहलू यह भी है कि अधिक व्यवहार से शब्द सिर्फ घिसते ही नहीं हैं बल्कि अधिक सुग्राह्य, संवेद्य, संप्रेष्य, विश्वसनीय और आत्मीय भी बनते हैं। फिर भी इस सवाल पर विचार करलेने का इतना भर कारण है कि आज हिंदी भाषा-साहित्य में हिंदी भाषा-समाज की कविता कम ही लिखी जा रही है। अन्य विधाओं की भी हालत थोड़ी बेहतर हो तो हो। साथ ही एक विचार यह भी सामने आ रहा है कि अंग्रेजी में लिखे साहित्य को भी भारतीय साहित्य क्यों नहीं माना जाये? इस तरह का विचार करनेवाले भारतीय का सहारा लेते हैं। कारण यह कि भारतीय भाषा नाम की कोई एक भाषा तो है नहीं इसलिए किसी एक भाषा-समाज के संदर्भ से साहित्य को जोड़कर देखने का प्रयास बेमानी हो जाता है। प्रत्येक भाषा का अपना भाषा-समाज होता ही है चाहे वह जैसा भी होता हो। जिस भाषा का कोई समाज नहीं होता है उस भाषा के अस्तित्व का आधार संस्थानिक होता है। भारत में अंग्रेजी संस्थानिक भाषा है सामाजिक भाषा नहीं। यह याद रखना चाहिए। ऐसा इसलिए है कि भारत के संस्थानों का आर्थिक-बौद्धिक प्रभुत्व जिनके हाथ में है उनका अपना आर्थिक-बौद्धिक स्वार्थ अंग्रेजी के माध्यम से संतुष्ट होता है और उनके भीतर पक रही खिचड़ी की गंध बाहरवालों को कम ही लगती है। और लग भी जाए तो उनके पास काई चारा नहीं होता। जिन साहित्यकारों को वे निर्विवाद रूप से महान और विश्व स्तरीय बताते हुए थकते नहीं उनके बारे में कोई रूशदी कुछ भी कहकर निकल जाए वे हल्की-सी भी चुनौती नहीं दे पाते हैं। विडंबना यह कि हम उसी रूशदी की अभिव्यिक्त की स्वतंत्रता सुनिश्चत करने के लिए सबसे अधिक आतुर होते हैं। जब कि उसकी अभिव्यिक्त की सार्थकता और सदाशयता पर विचार करने का न तो कारगर अधिकार रखते हैं और न तो सामर्थ्य ही रखते हैं। हम तो इसी बात पर ढेर हो जाते हैं कि राजकमल झा को करोड़ों की रॉयल्टी मिली है। अब यह देखने की फुर्सत किसे है कि राजकमल झा ने भला लिखा क्या है। कुल मिलाकर यह कि भाषा से विच्छिन्नता अंतत: समाज से विच्छिन्नता का ही आधार प्रस्तुत करती है। विश्व-भाषा का मुहावरा सुनने में बेहतर है लेकिन उसमें अंतर्निहित चालाकी को समझना ही चाहिए।

इसी प्रकार स्त्री-साहित्य के विमर्श को भी समझना होगा। स्त्री-साहित्य का उद्देश्य सामान्य अर्थात निर्विशिष्ट साहित्य के उद्देश्य से कतई भिन्न नहीं हो सकता है। यदि स्त्री-साहित्य कुछ अलग चीज हो तो बाकी बचे साहित्य को भी पुरूष साहित्य ही मानना होगा। असल बात यह है कि स्त्री-साहित्य हो या दलित साहित्य या प्रगतिशील साहित्य या सिर्फ साहित्य वह एक दूसरे का दुश्मन नहीं हो सकता है। एक

दूसरे के पूरक भले हों। विडंबना यह कि स्त्री और दलित साहित्य के पैरोकार अक्सर शिकायत करते हैं कि बिना स्त्री और दलित हुए स्त्री और दलित पीड़ा को कोई समझ ही नहीं सकता है। हो सकता है यह बात बिल्कुल ही ठीक हो। लेकिन तब उन पर यह आरोप चस्पा नहीं किया जा सकता है कि वह स्त्री और दलित विरोधी है, समझने में अक्षमता उनके सारे पाप, अगर हों तो, को धोकर रख देगी। लेकिन संभवत: ऐसा है नहीं। कुछ लेखकों के लेखन में सचमुच स्त्री और दलित विरोधी रूझान पाये जा सकते हैं। यह विरोध सीधे-सीधे नहीं हुआ करता है बल्कि किसी के पक्ष में अधिक झुकाव से महसूस किया जा सकता है। जरूरी नहीं कि ये लेखक सामान्यत: स्वयं स्त्री या दलित नहीं ही हों। रामधारी सिंह दिवाकर की कहानी (माटी पानी) का कोई पात्र अगर सामाजिक हैसियत बदल जाने पर दलित विरोधी आचरण कर सकता है तो उसका आचरण विश्वसनीय इसलिए पाया जाता है कि समाज में इसके उदाहरण मिल जाते हैं। इस प्रकार के आचरण किसी में भी पाये जा सकते हैं, लेखक में भी।

आधुनिक हिंदी साहित्य की शुरूआत से लेकर आज तक के समय में बहुत बदलाव घटित हो चुका है। यह बदलाव सामाजिक संरचना के ऊपरी स्तर से लेकर उत्पादन की शैली और लोगों की हैसियत में भी आया है। ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्र में बदलाव आया है। राजनीतिक संरचना में आया बदलाव तो और भी भयंकर है। अर्थ-संबंध का स्वरूप भी बहुत तेजी से बदला है। कला के विभिन्न माध्यमों की क्षमता और शैली में भी परिवर्तन आया है। पिछले बीस-पच्चीस साल में यह परिवर्तन और अधिक तीव्रता से घटित हुआ है। इस परिवर्तन का थोड़ा-सा प्रभाव थोड़े-से लोगों के लिए सकारात्मक रहा है तो बहुत सारे लोगों के लिए नकारात्मक ही रहा है। साहित्य ने इस थोड़े और बहुत के ऊपर पड़नेवाले प्रभाव को कैसे अभिव्यक्त किया है और इस अभिव्यिक्त के क्रम में खुद कितना परिवर्तित हुआ है इसका आकलन करना निश्चय ही दिलचस्प होगा।

वास्तव में किसी भी समय में समकालीनता की पहचान निर्विवाद नहीं हुआ करती है। फिर आज न तो कोई प्रकट काव्यांदोलन ही है और न किसी मतवाद का कोई गहरा सामूहिक या सामाजिक असर ही। कुछ आलोचकों के निजी आग्रह भले ही कभी-कभी सक्रिय प्रतीत होते हों पर वह कोई मान्य काव्यसूत्र की रचना करने में सफल हो ऱहे हों ऐसा नहीं है। इसे कविता के लिए अच्छा माना भी जा सकता है और नहीं भी। यदि कविता इतनी स्वायत्त हो चुकी है कि उसे बाहर से निदेशित करना अब संभव नहीं ऱहा इसलिए दिनों-दिन कविता से किसी खास प्रकार की मांग करने की जरूरत कोई महसूस नहीं कर ऱहा अर्थात किसी बाहरी अनुशासन के हस्तक्षेप की कोई प्रासंगिकता नहीं बची तब तो ठीक है लेकिन यदि कविता में खुद किसी प्रकार की सामाजिक उपादेयता नहीं बचने के कारण या कविता से किसी प्रकार का आश्वासन न पाने के कारण कविता किसी वैचारिक उदासीनता के तात्कालिक भंवर में पड़ी है तो यह हम जैसे लोगों के लिए चिंता का कारण है। इस मामले में मुझे लगता है थोड़ी-थोड़ी सच्चाई दोनों प्रकार

की सोच में है। कविता अपनी इस स्थिति से बेखबर नहीं है। आज हर समाज-सचेत हिंदी कवि इस इस बात को शिद्दत से महसूस कर ऱहा है। न सिर्फ महसूस कर ऱहा है बल्कि उसकी काव्याभिव्यिक्तयों में भी इसका प्रमाण दे रहा है। यहां आज की समकालीन हिंदी कविता की एक सामान्य चिंता को हम रेखांकित कर सकते हैं। निरर्थकताबोध के स्वर का इस या उस प्रकार से हिंदी कविता में प्रकट होना इस खास स्थिति को स्पष्ट करता है। राजेश जोशी, अरुणकमल जैसे कवियों की कविताओं में भी इसे बड़ी असानी रेखांकित किया जा सकता है।

समकालीन समाज जिन संकटों से जूझ रहा है वे सारे संकट किसी-न-किसी रुप में समकालीन हिंदी कविता की प्रवृत्तियाँ भी निर्धारित कर रही हैं। ऐसे में स्वाभाविक है कि समकालीन हिंदी कविता की प्रवृत्तियों की तलाश करने का प्रत्येक उद्यम समाज के संदर्भों के बीच से ही अपना रास्ता बनाता है या आकार पाता है। अब अगर समकालीन समाज के संकटों पर ध्यान दिया जाये तो कुछ बातें निम्नलिखित रुप में उभर कर हमारे सामने आती हैं ।

1) सार्वजनिक जीवन में जनतांत्रिक मूल्यों के प्रति सम्मान का अभाव
2) भ्रष्टाचार का नंगा स्वरुप और उसकी सामाजिक स्वीकृति का बनता हुआ माहैाल
3) जनांदोलनों या वास्तविक जनमुखी राजनीतिक पहल का घनघोर अभाव
4) व्यापक बेरोजगारी और शिक्षित समाज में घर करती सामाजिक उदासीनता
5) शिक्षा संसाधनों का अभाव और उपलब्ध संसाधनों का निर्मम दुरुपयोग
6) समाज का बचा हुआ सामंती मनोभाव और बरजोरी या बलगेंग का रवैया
7) समाज और परिवार में स्त्रियों , बच्चों ,खासकर बालिकाओं की दुर्दशा और बढती असुरक्षा
8) जानलेवा गरीबी, मंहगाई, जीवनयापन के संसाधनों और आय वृद्धि की संभावनाओं का अभाव
9) असंतुलित विकास की अंधी दौड़ और उसके कारण उत्पन्न होनेवाला पर्यावरण संकट
10) सांप्रदायिकता , जातिवाद और फासीवाद के बढते खतरों के साथ उन्माद का स्थाईभाव बनते जाना
11) दिनों दिन पारस्परिक सम्मान के भाव की कमी और अवहेलना भाव में हो रही वृद्धि
12) परदुखकातरता का बढता हुआ अभाव और परपीड़कता की बढती हुई प्रवृत्ति
13) घटती हुई सहिष्णुता और बढती हुई आक्रामकता में शौर्य की बनती प्रवृत्ति
14) सामाजिक संबंधों में बढ़ती हुई दरार की बाढ़ को रोकने की वास्तविक प्रक्रिया का अभाव
15) संपन्नता में विपन्नता की स्थिति और बढती हुई बेलगाम भयावह विषमता   आदि

भारतीय समाजों का भूगोल भी बहुत बड़ा है और इतिहास भी। हिंदी समाजों और भाषा में इसके अनुभव युगों से संचित होते रहे हैं। हिंदी समाज और भाषा एक अर्थ में भारतीय स्मृति और संस्कृति का केंद्रीय

कोष है। इसलिए उपरोक्त समस्याओं से जूझते हुए भी इस समाज में सिर्फ हताशा या पराजयबोध ही नहीं है बल्कि सहज उल्लास भी है और धैर्य भी है और है एक अद्भुत तथा स्पृहणीय जीवनशैली। एक भिन्न प्रकार का जीवन-बोध। समकालीन हिंदी कविता में समस्याओं से जूझते हुए इस विस्तृत भैगोलिक-ऐतिहासिक समाज की पीड़ाओं की काव्यात्मक अभिव्यिक्त की प्रचुरता है। इसे किसी वैचारिक दर्शन से जोड़कर भी देखा जा सकता है या सीधे सामाजिक परिप्रेक्ष्य के हवाले से भी समझा जा सकता है। लेकिन यह बिल्कुल स्पष्ट है कि इस दुष्चक्र में फँसे समाज के साथ हिंदी की समकालीन कविता खड़ी है और पूरी ताकत, वह जितनी भी हो, के साथ खड़ी है। कुछ ऋषिनुमा लोग और भी हैं जो हिंदी कविता के पथ के दावेदार हैं और जो कालजयी कविता लिखने के व्यापक कारोबार में व्योम-व्यस्त हैं। उनकी कविताएँ कालजयी चाहे जितनी हो काल-सिद्ध और काल-बिद्ध तो बिल्कुल ही नहीं है। इसलिए ये चाहे तुमार जितना बांधें समकालीन हिंदी कविता की सामान्य प्रवृत्तियों को समझने में सहायक तो बिल्कुल ही नहीं हैं। यदि आचार्य रामचंद्र शुक्ल को प्रमाण मानें (न मानने की कोई आवश्यकता नहीं दीखती है) तो किसी भी समय के साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियों को पहचानने का सबसे प्रामाणिक ढंग होता है जनता की चित्तवृत्तियों आ रहे बदलाव को स्वर देनेवाले साहित्य-रुपों का संगठित अध्ययन किया जाये। समकालीन हिंदी कविता की सामान्य प्रवृत्तियों को समझने के लिए भी इससे बड़ा, प्रामाणिक और महत्वपूर्ण कोई दूसरा सूत्र नहीं हो सकता है। हां, विभिन्न समकालीन हिंदी कवियों की कविताओं में इसके काव्यात्मक निभाव का स्वरुप अपना और अनोखा है।